RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-02
February-2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[UGC Listed Journal]

त्रिपिटक के आधार पर कर्म का सिद्धांत

डॉ. रंजना रानी सिंघल

एसोसिएट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय

बौद्ध धर्म के गंभीर तथा कठिन सिद्धांतों में से कर्म का सिद्धांत एक है। पालि साहित्य में प्रतिपादित त्रिपिटक ग्रंथों में[i] भगवान् बुद्ध ने अपने पुनर्जन्म की कथाओं में अपने पिछले जन्म के अनुभवों को सुनाया है। उसी के आधार पर यह सिद्ध होता है कि इससे पहले भी ''बुद्ध जन्म ले चुके थे, बौद्ध धर्म में कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धांतों पर विश्वास किया जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य अकेला नहीं है। जो वर्तमान जिन्दगी में देखा जाता है, उसके साथ पुनर्जन्म के कुछ अनुभव भी साथ–साथ होते हैं। इस प्रकार गूढ़ रहस्यों के आधार पर यह जाहिर होता है कि जिन्दगी एक बादल की तरह है। जिस पर मनुष्य ने अपनी रूपरेखा प्रस्तुत कर रखी है। यह कार्य बहुत बार और अनेकों प्रकार से सम्पादित होते हैं। इसमें देखना यह है कि वास्तव में 'कर्म एवं पुनर्जन्म' दोनों ही शब्द विचारणीय है। साधारणतया अनुभव व हमारे कामों में परिवर्तन नहीं होता है। सन्दर्भतया यह एक दिमाग का संकल्प है।

जब किसी जीवन में कोई व्यक्ति मृत्यु के आधार पर पहुँचता है, चाहे प्राकृतिक घटनाक्रम से हो चाहे हिंसा द्वारा हो। सभी इन्द्रियाँ भी काम करना बंद कर देती हें, और संवेदन शक्ति सोचने की शक्ति और जैव शक्ति सब अपने अंतिम आश्रय स्थान हृदय के अंदर आ जाती है– तब उसका अंतिम शरणाश्रय अर्थात् हृदय में निवास करने वाली चेतना जिसे क्षमता भी कह सकते हैं, कर्म के बल से विद्यमान रहती हैं। यह कर्म उस वस्तु को जिसके ऊपर यह निर्भर करता है, अपने अंदर समवेत एवं स्थिर रखता है, और इससे पूर्व के वे कर्म भी सम्मिलित रहते हैं जो अधिक महत्त्व के हैं, और बार–बार अभ्यास में आए होंगे तथा इस समय अधिक सन्निकट है, अथवा यही कर्म अपना अथवा नवीन जीवन की आकृति का पूर्वाभास देता होगा। जिसमें अभी जाना है, या जन्म लेना है और इसी विषय को लक्ष्य में रखने के कारण चेतना अपना अस्तित्त्व स्थिर रखती है।

''चूँकि चेतना अभी भी विद्यमान है यहाँ तक कि इच्छा एवं अज्ञान अभी भी दूर नहीं हुए और उद्देश्य का अशुभ भाग अभी भी अज्ञान के कारण छिपा हुआ है, इच्छा के द्वारा चेतना का झुकाव जीवन रूपी लक्ष्य की ओर करा दिया जाता है, और कर्म जो चेतना के साथ–साथ ही आ गया, इसे उक्त उद्देश्य की ओर अग्रसर करता है। यह चेतना उस श्रृंखला के अंदर रहते हुए जिसका झुकाव इच्छा के कारण उक्त उद्देश्य की ओर है और जिसे कर्म ने इसकी ओर अग्रसर किया है, एक खाई के ऊँचे किनारे पर वृक्ष से लटकती रस्सी के सहारे झूलने वाले मनुष्य के समान अपने विहित स्थान को छोड़ती है और दृश्यमान पदार्थों के ऊपर निर्भर करती हुई अपनी स्थिति को संभाले रहती है एवं कर्म द्वारा निर्मित किसी अन्य स्थान पर प्रकाशित होती भी है और नहीं भी होती। यहाँ पर अब पहली चेतना नहीं रही। इसलिए कहा जाता है कि अमुक मनुष्य संसार में नहीं रहा और परवर्ती चेतना फिर से नये जीवन में उत्पन्न होती है। इसलिए उसे हम पुनर्जन्म कहने लगते हैं। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि यह परवर्ती नये जीवन में पूर्व चेतना से नहीं आयी और यह कि यह केवल पुनर्जन्म में वर्तमान कारण से अर्थात् कर्म अथवा क्षमता एवं झुकाव (नया जन्म लेने की प्रवृत्ति) से ही वर्तमान जीवन में प्रकट हुई है।''

जीवन में भिन्न–भिन्न योनियों का वर्णन किया गया है। उनकी जन्म विषयक चेतना ही असंगठित प्रकृति के अन्दर से अपने शरीर का निर्माण कर सकती हैं। पशु, प्रेतात्मा और मनुष्य की योनियों के लिए जीवनधारण संबंधी चेतना के लिए विशेष भौतिक अवस्थाओं का विद्यमान रहना आवश्यक है और यदि मृत्यु के क्षण में वे अवस्थाएँ उत्पन्न न हो सकी तब मृत्युमय की चेतना नये जन्म की चेतना के रूप में तुरंत आगे नहीं चल सकती। जिस व्यक्ति ने नया जन्म धारण किया है वह मृत मनुष्य के कर्म का उत्तराधिकारी है, किन्तु तो भी है वह एक नया प्राणी। स्थायी साम्यता न रहने पर भी अभावात्मक विच्छेद भी तो नहीं है। नया प्राणी वह है जो उसे उसके कर्मों ने बनाया है।

कर्म के ही कारण जीवन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसलिए जब कर्म पूर्णतया अपने फल दे चुकता है तो जीवन का भी अंत हो जाता है। बुद्ध ने बहुत ही साफ शब्दों में कहा है–

''चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि।

चेतयित्वा कम्मं करोति।।''[ii]

अर्थात् ''हे! भिक्षुओं मैं चेतना को को ही कर्म कहता हूँ। चेतना ही कर्म करती है''। चेतना का अर्थ चित्त है; चेतना हमारे मस्तिष्क का मानसिक संकल्प है। इसलिए मानसिक दृढ़ता (संकल्प) ही वास्तविकता में कम्म का अर्थ है। और अब यही संकल्प हमारे शरीर के द्वारा कार्य के रूप में निर्देशित किया जाता है, तो यह काय कर्म या शारीरिक हरकत कहलाता है। जब यह संकल्प हमारी वाणी के द्वारा जूझता है। तब यह वाचिक कर्म पुकारा जाता है। जब यह संकल्प हमारे दिमाग के स्तर पर बनता है। तब यह मनोकर्म कहलाता है। इस प्रकार (कायिक, वाचिक, मानसिक) कर्म के तीन रूप है। कोई भी कार्य नैतिक या अनैतिक, कुशल या अकुशल हो सकता है। जब यह कार्य अलोभ अदोष, अमोह किसी इसी रास्ते से आता है तो 'कुशल कर्म' कहलाता है। और जब यही अनैतिक लोभ, दोष, मोह के रास्ते से आता है तो 'अकुशल कर्म' कहलाता है। जब कभी कोई कार्य प्रतिपादित होता है। वह एक क्षण के लिए होता है और दूसरे ही क्षण वह लुप्त हो जाता है। किन्तु इन तरीकों से लुप्त होकर हमारे मस्तिष्क पर छाप छोड़ जाता है। यही छाप कर्मों के फल के परिणाम में उपस्थित होती है। यह उपरोक्त परिणाम या फल आगे चलकर हमारे मस्तिष्क के सतह पर एक समरूप प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। जिससे नैतिक कार्य शुभ परिणाम एवं अनैतिक कार्य अशुभ परिणाम को प्रस्तुत करता है। इन कार्यों के परिणामों के कारण ही मनुष्य बारम्बार

RRIJM 2015, All Rights Reserved

अपने कार्य की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप भिन्न–भिन्न दशाओं में जन्म लेता है। इसी को हम 'कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत' कहते हैं। इसलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि–

''कम्मस्सका, माणवसता, कम्मदायादा, कम्मयोनि, कम्मबन्धु,

कम्म पटिसरणा, कम्मसत्ते विभजति, यदिदं हीनत्थगी.... [iii]

अर्थात् कर्म ही मनुष्य का आश्रय है। मनुष्य कर्म का ऋणी (अधीन) है। अर्थात् कर्म के अनुरूप ही जन्म ग्रहण करता है। कर्म के अनुरूप ही उसे नाना प्रकार की योनियाँ प्राप्त होती हैं। कर्म ही उसका बन्धु है। कर्म ही के अधीन होकर बार–बार जन्म ग्रहण करता है। कर्म ही मानव को नाना प्रकार की योनियाँ प्रदान करता है।

भगवान् बुद्ध ने 'कर्म' की स्पष्ट व्याख्या की और गहन गम्भीर खोज एवं चिन्तन के बाद एक यथार्थ धम्म (मत) दिया जो आदि में कल्याणकारी हैं, मध्य में कल्याणकारी हैं और अन्त में कल्याणकारी हैं। जो तर्क संगत है, न्याय संगत है और बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरता है इसी पर हम विचार करेंगे।

कर्म का अर्थ है कार्य, क्रिया अथवा आचरण। मन से, वचन से, काया से, जानबूझ कर, स्वेच्छा या इरादे के साथ किया गया किसी प्रकार का कार्य 'कर्म' कहलाता है। सभी प्रकार के अच्छे या बुरे काम 'कर्म' के अन्तर्गत आते हैं।

'मिलिन्द पञ्हो' में पुनर्जन्म पर विचार करते हुए सर्वप्रथम कर्मवाद को उपस्थित किया गया है। यहाँ कर्मवाद को प्रकाशित करते हुए कर्मों के एकत्त्व और नानात्त्व पर विचार किया गया है सर्वप्रथम चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिव्हा, काय। ये जो पाँच आयतन है। ये आयतन किसी एक कर्म के द्वारा या अनेक कर्मों के फलस्वरूप ही ये अस्तित्त्व ग्रहण करते हैं। यहाँ कर्मों के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सभी मनुष्य एक ही प्रकार के नहीं होते। कोई मनुष्य कम आयु वाला होता है और कोई दीर्घ आयु वाला होता है। सभी मनुष्य कई प्रकार के होते हैं। इसमें कुछ विद्वान होते हैं, मूर्ख होते हैं, सुन्दर व कुरूप होते हैं। ये क्यों होते हें, इसके उत्तर में भिक्षु नागसेन कहते हैं कि जिस प्रकार वृक्षों के बीज भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं। उसी प्रकार मनुष्य के कर्म भी भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं। उन्हीं भिन्न–भिन्न कर्मों के परिणाम स्वरूप मनुष्य भी भिन्न–भिन्न प्रकार के कर्मों का उपयोग करते हुए भिन्न–भिन्न आकृति को प्राप्त होते हैं।

कर्मों के प्रकार

सभी कर्मों को कायिक, वाचिक व मानसिक कर्मों के अधीन रखा गया है। ये तीनों कर्म दो प्रकार के होते हैं। 1. कुशल (भले) कर्म, 2. अकुशल (बुरे) कर्म, सभी कायिक, वाचिक व मानसिक कर्म कुशल व अकुशल भी होते हैं। अकुशल का मूल लोभ, दोष, मोह है। कुशल का मूल अलोभ, अदोष व अमोह है।

अकुशल कर्म	कुशल कर्म
1. प्राणतिपात–हिंसा	1. प्राणातिपाता वेरमणी – अहिंसा
2. अदत्तादान – चौर्य	2. अदत्तादान वेरमणी – अचौर्य
3. काममिथ्याचार – व्यभिचार	3.काममिथ्याचार वेरमणी– अव्यभिचार
4. अनृत्त (मुसावाय)–मृषावचन	4. मृषावाद वेरमणी–अमृषावचन
5. पैसुन्य – पिशुनवचन	5.पैसुन्यवाचा वेरमणी– अपिसुनवचन
6. पारूष्य – कटुवचन	6.फरूसावाचा वेरमणी– अकटुवचन
7. सम्भिन्न प्रलाप – संप्रलाप	7. सम्फप्पलापा वेरमणी – असंप्रलाप
8. अमिथ्या – लोभ	8 अमिथ्यावादा वेरमणी – अलोभ
9. व्यापाद – प्रतिहिंसा	9. व्यापाद वेरमणी – अप्रतिहिंसा
10. मिथ्यादृष्टि – मिथ्यादृष्टि	10. मिथ्यादृष्टि वेरमणी– अमिथ्यादृष्टि

सम्यक् कर्म– (कुशल कर्म)

यह मिथ्या कर्मान्त का विपरीत शब्द है। इसका अर्थ है ठीक कार्य, सम्यक् आचरण, यथार्थ कर्म, हिंसा न करना, चोरी न करना, काम मिथ्याचार से विरत् रहना सम्यक् कर्मान्त है। कर्म प्रबल है। सत्वों के कृतकर्मों पर ही उसका नरक और निर्वाण निर्भर करता है। 'कर्म सिद्धांत पर महत्त्व देते हुए मनुष्य की सद्गति या दुर्गति का कारण उसका कर्म ही होता है। कर्म के कारण ही सत्त्व सुख या दुःख, स्वर्ग या नरक भोगता है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि अकुशल कर्म का परित्याग कर इसके विपरीत अहिंसा, अचौर्य तथा ब्रह्मचर्य आदि कुशल कर्म ही सम्यक् कर्म है। इस प्रकार दस अकुशल कर्मों से विरत् रहना तथा दस कुशल कर्मों से युक्त होना ही सम्यक् कर्म है। अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्य अपिसुण, मधुर तथा सार्थक वचन और 'अलोभ, अद्वेष और अमोह ये ही दस कुशल कर्म हैं। ये दस कुशल कर्म ही सम्यक् कर्म कहलाते हैं। इन दस कुशल कर्मों को कायिक, वाचिक व मानसिक कुशल कर्मों के अन्तर्गत रखा गया है।

1. कायिक कर्म– प्राणातिपात, अदत्तादान और काम मिथ्याचार इन तीन कर्मों से विरत् रहना कायिक कुशल कर्म है।

2. वाचिक कर्म– अनृत, पैशुन्य, पारूष्य और सम्भिन्न प्रलाप इन चार कर्मों से विरत् होना वाचिक कुशल कर्म है।

3. मानसिक कर्म– अमिथ्या, व्यापाद और मिथ्या दृष्टि से विरत् रहना मानसिक कुशल कर्म है।

1. तीन कायिक कर्म–

RRIJM 2015, All Rights Reserved

1. **प्राणातिपात**– प्राणातिपात में दो शब्द हैं प्राण और अतिपात। प्राण शब्द से सत्त्व व जीव का बोध होता है और अतिपात का अर्थ शीघ्रता से गिरना, पात होना ये प्राणातिपात हिंसा है। किसी शस्त्रादि से आक्रमण कर प्राणों को अतिपात करने को प्राणातिपात कहते हैं। प्राणातिपात अकुशल कर्म है। इसका सर्वथा त्याग ही प्राणातिपात वेरमणी कायिक कुशल कर्म कहलाता है।

2. **अदत्तादान**– दूसरा कायिक कर्म अदत्तादान है। जो वस्तु नहीं दी गयी है। वह अदत्त कहलाती है। इस अदत्त वस्तु का ग्रहण करना अथवा उस रूप चित्त का होना अदत्तादान कहलाता है। अदत्त वस्तुओं को बोल कर ग्रहण करना अदत्तादान है। इससे विरत् रहना अदत्तादान है। भगवान् बुद्ध स्वयं अदत्तादान से विरत् होकर विहार करते थे और मन, वचन, काय से अदत्तादान से विरत रहने की शिक्षा देते थे।

3. **काम मिथ्याभिचार**– कामेसुमिथ्याचार अर्थात् जिसके साथ मैथुन करना वर्जित है। ऐसी दूसरों की पत्नियों व स्त्रियों के साथ मैथुन क्रिया करना काम मिथ्याचार है। यह अकुशल कर्म है। काम की तीव्र इच्छा होने से रसानुभूति के कारण और कभी–कभी द्वेष की भावना से भी किया जाता है। सुरापान आदि नशीली वस्तुओं का पान करना इसी अकुशल कर्म में गिना जाता है। क्योंकि पंचकाम गुणों में काम स्पर्श स्पष्टयालम्बन काम गुण होता है एवं सुरापान रसालम्बन काम गुण होता है। जिसे मिथ्याभिचार माना जाता है। सुरापान करने से सत्त्व निर्भय होकर प्राणातिपाता काममिथ्याभिचार आदि में प्रवृति करता है। अतः इस अकुशल कर्म का त्याग कर कुशल कायिक कर्म ही सम्यक् कर्म है।

2. चार वाचिक कर्म– वाचिक कर्म का अर्थ है ठीक वचन, सम्यक् भाषण तथा यथार्थ वाणी। झूठ न बोलना, चुगली न करना, कठोर वचन न बोलना ही सम्यक् वाक् है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि दो ही बातें करने योग्य होती है एक तो धार्मिक चर्चा और दूसरी आर्य मौन। हितकारी वचन ही सम्यक् वाणी का मूल है। वाचिक कर्म चार प्रकार के होते हैं– 1. मृषावादवेरमणी (अमृषावचन), 2. पैशुन्यवाचावेरमणी (अपिसुनवचन), 3. फरूसाय वाचा वेरमणी (अकटुवचन), 4. सम्फप्पलापा वेरमणी (असंप्रलाप)। इस प्रकार सत्य, अपैशुन्य (चुगली न करना) प्रिय एवं मृदु तथा सार्थक तथा धर्मयुक्त वचन ही सम्यक् वचन है।

1. मृषावादवेरमणी– मृषावाद या अनृत का अर्थ झूठ होता है अर्थात् असत्य अथवा तुच्छ वचन अनृत कहलाता है जिस चेतना द्वारा मृषा अर्थात् अनृत का कथन किया जाता है। वह चेतना ही मृषावाद या अनृत कहलाती है। इनका त्याग ही मृषावादवेरमणी है।

2. पिसुनायवाचाय वेरमणी– पिसुनायवाचाय या कटुवचन अर्थात् पिसुनवचन में पिसुन का अर्थ कठोर या कटु होता है। कठोरवाणी या कटुवाणी ही पारुष्यवाक् है। जो वचन अपने लिए और दूसरे के लिए भी कठोर है अथवा जो वचन स्वयं कठोर है, कर्णकटु हैं हृदयंगम नहीं है वही वचन पारुष्य कहलाता है। इस पारुष्यवाचा में क्रोध, भर्त्सना और आक्रोश (गाली–गलौच या शाप आदि) ये तीन बातें अवश्य होती हैं। इनका त्याग पिसुनायवाचाय वेरमणी है।

3. फरूसायवाचाय वेरमणी– फरूसाय या पैशुन्य का अर्थ है, चुगली करना जो वचन समस्त भावों को पीसते हैं, चूर्ण करते हैं उसे पैशुन्य कहते हैं। जो वाणी दो प्राणी के परस्पर एकता को नष्ट करती है। जो अपना प्रिय बनाने के लिए किसी दूसरे को प्रेम अथवा मैत्री भाव से पृथक कराती है वह पैशुन्य है। इस प्रकार स्वयं को प्रिय और दूसरों की मित्रता के विलोम करने को पैशुन्य कहते हैं। इस मैत्री लोप के लिए प्रयुक्त वचन 'पैशुन्यवाक्' ही है इस प्रकार बुद्ध पैशुन्य वचन से विरत् होकर सदैव सत्य और मधुर वचन बोलने की प्रेरणा देते हैं।

4. सम्फप्पालाप वेरमणी– सम्फप्पलाप या सम्भिन्न प्रलाप का अर्थ है बकवाद। हित एवं सुख का नाश करने वाला 'सम्फ' कहलाता है और जिस चित्त से हित सुख का नाश होता है। ऐसी वाणी का उच्चारण जिसमें होता है। वह चेतना विशेष सम्फप्पलाप कही गई है। इसमें व्यर्थ बकवास एवं रोना पीटना होता है। इस कारण इसे सम्फप्पलाप कहते हैं ये तीन प्रकार के होते हैं 1. मिथ्यासम्फप्पलाप, 2. लौकिक सम्फप्पलापा, 3. सत्यसम्फप्पलाप। निरर्थक किस्से कहानी और हंसी मजाक आदि में जो व्यर्थ वार्तालाप होता है वह लौकिक सम्फप्पलाप है, वाद–विवाद, जय पराजय में होने वाला सम्फप्पालाप मिथ्या सम्फप्पलाप है व जो अधिकारी या पात्र नहीं है फिर भी उसको धर्मकथन करना सत्य सम्फप्पलाप है इस प्रकार झूठ, पिशुन, कठोर, व्यर्थ निरर्थक, चार प्रकार के वचीदुश्चिरितों का त्याग ही सम्यक् वचन है। अर्थात् सत्यवचन सार्थक वचन, मधुरवचन और धर्म के विनयशील वचनों का बोलना ही सम्यक् वाणी है।

3. तीन मानसिक कर्म

1. अभिध्याः– दूसरे की सम्पत्ति को सम्मुख कर उसे प्राप्त करने की इच्छा से चित्त का होना अभिध्या है। परमार्थ से यह एक प्रकार का लोभ ही है। यह अभिध्या तीन प्रकार की होती है 1. आत्मीय अभिध्या, 2. परकीय अभिध्या और 3. उभयातिरिक्त अभिध्या अर्थात् भूमि के नीचे गढ़ी हुई निधि की अभिध्या।

2. व्यापाद– विद्वेष की भावना से, दूसरों के हित को, ठेस पहुँचाने की कामना से उन्हें नष्ट करने की प्रवृत्ति व्यापाद है दूसरे प्राणियों को सुखी देखकर अमुक सत्त्व नष्ट हो जाये अथवा उसका सब नष्ट हो जाये इसके लिए मुझे क्या करना चाहिए इत्यादि विनाश की इच्छा रूप द्वेष ही 'व्यापाद' कहलाता है। यह व्यापाद दो तरह का होता है– द्वेषिक (द्वेष प्रधान) व्यापाद और ऐष्यिक (ईर्ष्या) व्यापाद इनके दो अंग भी होते हैं 1. परसत्त्व एवं 2. उसके नाश की चिन्ता या भावना। अपने से भिन्न प्राणियों को जान से मारने–पीटने या विनाश करने की इच्छा से द्वेष व ईर्ष्या की भावना रखना व मैत्री करूणा आदि धर्मों का सेवन न करना व्यापाद ही है।

3. मिथ्यादृष्टि– जो विपरीत रूप से देखती हैं वह मिथ्या दृष्टि है। कुशल अकुशल के अस्तित्त्व को जो नहीं मानती वह मिथ्यादृष्टि है। लोक नहीं है, परलोक नहीं है, अर्हत् नहीं है यही मिथ्या दृष्टि है।। आत्मा है ऐसा मानना मिथ्या दृष्टि है। इस प्रकार से व्यर्थ के विवाद आदि में उलझने को ही मिथ्यादृष्टि कहा है। इन तीनों मानसिक कर्म के विपरीत आचरण या इनसे दूर रहना ही कुशल मानसिक कर्म है।

इस संसार में तीन प्रकार के कर्मों (कायिक, वाचिक, मानसिक) की सिद्धि, आश्रय, स्वभाव और समुत्थान इन तीन कारणों से होती है

RRIJM 2015, All Rights Reserved

यदि हम 'आश्रय' का विचार करते हैं तो एक ही कर्म ठहरता है। क्योंकि सब कर्म 'काय' पर आश्रित है यदि हम स्वभाव का विचार करते हैं तो वाक् कर्म ही एक कर्म है, यहाँ अन्य दो (काय कर्म, मानसिक कर्म) का कर्मत्त्व नहीं है। क्योंकि काय, वाक् और मन इन तीनों में से एक वाक् स्वभावतः कर्म है। यदि हम 'समुत्थान' का विचार करते हैं, तो केवल एक मानस कर्म ही है, क्योंकि सब कर्मों का समुत्थान (आरम्भ) मन से है।

इसे हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं

अकुशल कर्म	**कुशल कर्म**	**कर्म के प्रकार**
1. प्राणातिपात	अ–हिंसा	(3) कायिक कर्म = आश्रय
2. अदत्तादान	अ–चौर्य	
3. काममिथ्याचार	अ–व्यभिचार	
4. अनृत (मुसावाद)	अ–मृषावचन	(4) वाचिक कर्म = स्वभाव
5. पैशुन्य	अ–पिशुनवचन	
6. पारूष्य	अ–कटुवचन	
7. सम्भिन्न प्रलाप	अ–संप्रलाप	
8. अमिथ्या	अ–लोभ	(3)मानसिक कर्म= समुत्थान
9. व्यापाद	अ–प्रतिहिंसा	
10. मिथ्यादृष्टि	अ–मिथ्यादृष्टि	

अकुशल का मूल है लोभ, दोष तथा मोह है। कुशल का मूल है अलोभ, अदोष तथा अमोह है। इन कर्मों का सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक है। साथ ही साथ आर्य सत्यों को (दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध तथा दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद्) (दुःख निरोध का मार्ग) भलीभांति जानना सम्यक् दृष्टि हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कुशल और अकुशल कर्मों के द्वारा ही जन्म ग्रहण होता है। क्योंकि कर्मों का फल अवश्य हुआ करता है।

'मज्झिम निकाय' में चार प्रकार के कर्म बताये गये हैं। कौन से चार?

1. अकुशल कर्म, इसका फल (विपाक) भी अकुशल ही होता है।
2. कुशल कर्म, इसका फल (विपाक) भी कुशल ही होता है।
3. कुशल–अकुशल फल भी कुशल–अकुशल मिश्रित होते हैं तथा उनका फल भी कुशल–अकुशल मिश्रित होता है।
4. एक कर्म वह होता है, जिसे न कुशल कहा जा सकता है न अकुशल, इसके फल की भी वही स्थिति होती है। यह चौथे प्रकार का कर्म ही कर्म क्षय में सहायक होता है।[iv]

अकुशल कर्म– जब कोई पुरुष अपनी शारीरिक, मानसिक व वाचिक कर्म दूसरों को पीड़ादायक शारीरिक, वाचसिक, मानसिक चेष्टायें करने के कारण, अन्त में, पीड़ादायक लोक में उत्पन्न होता है और अत्यन्त कष्ट कारक कर्म भोगना पड़ता है। ऐसा पापकर्म अशुभ फलदायक कहलाता है।

कुशल कर्म– जब कोई सज्जन पुरुष सुखदायक शारीरिक, मानसिक व वाचिक मन की चेष्टायें[i] दूसरों को सुख देने के लिये करता है। वह दूसरों को सुखदायक शारीरिक, वाचसिक एवं मानसिक चेष्टायें करने के कारण सुखमय लोक में उत्पन्न होता है। उसे सुखमय लोक में सुखद अनुभव करने को मिलता है। अर्थात् अत्यन्त सुख अनुभव करता है। ऐसा कर्म कुशल फलदायक कहलाता है।

कुशल–अकुशल मिश्रित कर्म– जब कोई पुरुष दूसरों को दुःख देने के लिये भी और सुख देने के लिये भी अपनी शारीरिक, वाचसिक, व मानसिक चेष्टायें करता रहता है। वह अपनी सुख–दुःख मिश्रित शारीरिक, वाचसिक एवं मानसिक चेष्टाएं करने के कारण, मरणान्तर, दुःख–सुख मिश्रित फलदायक लोक में उत्पन्न होता है। ऐसे दुःख–सुख मिश्रित लोक में उत्पन्न हुआ वह वहाँ दुखः–सुख मिश्रित फल का ही अनुभव करता है। जैसे कि मनुष्य योनि, देव योनि या नरक में उत्पन्न प्राणी। इसलिये कहा गया है कि सभी प्राणी कर्माधीन है।

न कुशल न अकुशल कर्म– अकुशल कर्म व उसके फल का नाश करने के लिये किया गया मानसिक उद्योग (कर्म) तथा कुशल कर्म व उसके फल का नाश करने के लिये, और इसी तरह न कुशल न अकुशल कर्म व उनके फलों के नाश के लिये किया गया मानसिक कर्म ही न कुशल व न अकुशल फल विपाक कहलाता है। ऐसा मानसिक उद्योग ही प्राणियों के स्वकर्म क्षय के लिये उपयोगी होता है।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

बौद्ध दर्शन में इस प्रकार कर्म को प्रधानता दी गई है। सभी जीव अपने कर्मों का फल भोगते हैं। मनुष्य कर्मों के अधीन है। कर्मों के अनुकूल ही नाना योनियाँ प्राप्त होती हैं। कर्म ही उसका बन्धु है, कर्म ही उसका आश्रय है और कर्म से ही प्राणी उच्च या नीच होता है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुनर्जन्म में कर्मकारण प्रतीत होता है। कर्मों के परिणाम स्वरूप जन्म ग्रहण होते हैं; और अनेकों योनियाँ प्राप्त होती हैं। एक व्यक्ति करोड़पति होता है, दूसरा कंगाल, एक विद्वान होता है, दूसरा मूर्ख होता है। एक अपराधी प्रवृत्ति का होता है। क्यों कुछ लोग विद्वान, कलाकार, संगीतकार, वैज्ञानिक होते हैं। कुछ अंधे, गूंगे बहरे और अपंग होते हैं। इस सब प्राणियों में असमानता होने का कोई कारण अवश्य ही होगा। बुद्धिमान व्यक्ति इसे आकस्मिक घटना नहीं मान सकता। संसार में सभी घटनाओं का हेतु (कारण) अवश्य हैं।

जब भिक्षु अश्वजित् ने सारिपुत्र और मोद्गल्योयन को इस एक महत्वपूर्ण सिद्धांत को सारांश में बताया तो वे अत्यधिक प्रफुल्लित एवं रोमांचित हो उठे थे। अश्वजीत् ने बताया समस्त कर्मों का हेतु (कारण) होता है। सदाचरण एवं शीलों के पालन से उत्पन्न कार्य कुशल कर्म कहे जाते हैं। दुराचरण व शीलों का उल्लंघन करने के कारण होने वाले कर्म अकुशल कर्म कहे जाते हैं।

सब कर्म संचित नहीं होते अर्थात् फल देना आरम्भ नहीं करते।

कृत कर्म और उपचित (संचित) कर्म में भेद है। वहीं कर्म उपचित होता है जो स्वेच्छा से या बुद्धि पूर्वक किया जाता है। अबुद्धिपूर्वक कर्म, वह कर्म है जो भ्रान्तिवश किया जाता है, जो उपचित (संचित) नहीं होता। जब कर्म अशुभ और उसका अकुशल परिवार है तभी कर्म 'उपचित' (संचित) होता है। जो कर्म विपाक दान में नियत है, वह उपचित होता है जो अनियत है वह उपचित नहीं होता।

कर्म विपाक के सम्बन्ध में कहा गया है कि कर्म बीज के सदृश स्वकीय सामर्थ्य से अपने फल का उत्पाद करता है। कर्म बीज के समान हैं, जो अपना फल प्रदान करता है यह सुख या दुःख वेदना है। कर्म का विनाश नहीं होता। जब समय आता है, और प्रत्यक्ष सामग्री उपस्थित होती है, तब कर्मों का विपाक होता है।

कर्म फल के अस्तित्त्व भाव को अभिव्यक्त करते हुए राजा मिलिन्द ने प्रश्न उपस्थित किया है कि भन्ते नागसेन नामरूप में किया गया शुभ अशुभ कर्म कहाँ ठहरते हैं। इसके उत्तर में भन्ते नागसेन कहते हैं कि वे एक दूसरे से संबंधित होते हैं, कभी भी पीछा नहीं छोड़ते। जैसे शरीर की छाया शरीर को कभी नहीं छोड़ती। 'धम्मपद' में भी कहा गया है कि मन सभी प्रवृत्तियों का अगुवा है। मन उसका प्रधान है, मन से ही वे उत्पन्न होती हैं। यदि कोई प्रसन्न या स्वच्छ मन से वचन बोलता है, काम करता है, तो सुख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कि कभी साथ नहीं छोड़ने वाली छाया (परछाई) करती है।[v]

कर्मों का जो शुभ–अशुभ फल है उनके निमित्त जो कर्म किया जाता है, उससे जो परिणाम होता है, क्या ये कर्म दिखाए जा सकते हैं। इसके उत्तर में भिक्षु नागसेन कहते हैं कि ये दिखाये नहीं जा सकते। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य वृक्ष के उन फलों को नहीं दिखा सकता जो अभी लगे ही नहीं हैं। न ही उसे बताया जा सकता है। उसी प्रकार से वे कर्म जिनका सन्तति, प्रवाह कभी नहीं टूटता उनके प्रवाह को दिखाया नहीं जा सकता। इसलिए कहा गया है कि 'कर्म की गति ग्रहण है'। वह कहाँ कहाँ प्रवाहित होता रहता है, उसे नहीं जाना जा सकता।

बौद्ध धर्म के अनुसार इस असमानता का कारण 'कर्म' है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भूतकाल में अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल हम वर्तमान में पाते हैं। हम अपने सुख अथवा दुख के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं। हम अपने स्वर्ग के स्वयं निर्माता हैं। हम अपना नरक स्वयं बनाते हैं। हम अपने भाग्य के स्वयं शिल्पी है। प्राणी कर्म स्क्का (=कर्म ही धन जिनका), कर्म–दायाद, कर्म योनि, कर्म बन्धु, कर्म प्रतिशरण (रक्षक) हैं। कर्म प्राणियों को इस हीनता और प्रणीतता (उच्चता) में विभक्त करता है।[अप]

इस संसार से पृथक कोई स्वर्गलोक अथवा नरक लोक नहीं है। स्वर्ग और नरक इसी धरती पर है। यहाँ स्वर्ग एवं नरक से तात्पर्य है कि जब कोई व्यक्ति विपरीत परिस्थिति में उत्पन्न होकर दुःख से भरा जीवन व्यतीत करता है। अथवा अविद्या (अज्ञान) के कारण उसे अच्छे या बुरे (कुशल एवं अकुशल) कर्मों का ज्ञान नहीं होता और वह दुराचरण में लगा रहता है तो ऐसी स्थिति में नरक समझना चाहिए। दूसरी ओर जब कोई व्यक्ति अनुकूल परिस्थिति में पैदा होकर सुख से भरा जीवन गुजारता है अथवा जब उसमें प्रज्ञा होती है, सदाचरण होता है, शील होता है, वह कुशल कर्म करता है। जिससे उसे स्वयं सुख प्राप्त होता है और जो भी उसके सम्पर्क में आता है सुखी होता है तो ऐसी स्थिति को ही स्वर्ग समझना चाहिए।

'त्रिपिटक' में कर्मफल से सम्बन्धित अनेक गाथाओं का वर्णन मिलता है। भगवान् बुद्ध ने वेणुवन में महामोद्गल्यायन से सम्बन्धित कर्म फल की कथा (अर्हत् महामोद्गल्यायन ने किसी पूर्वजन्म में, अपनी पत्नी के उकसाने पर, अपने माता–पिता की हत्या कर दी थी। इसके परिणाम स्वरूप उन्हें लम्बे समय तक दुःख भोगना पड़ा और अपने अंतिम जीवन में लुटेरे–डाकुओं द्वारा उनकी हत्या कर दी गयी) अपने इस पापकर्म का फल मोद्गल्यायन सहस्त्रों वर्षों तक भोगते रहे। अब यह वर्तमान अंतिम मृत्यु भी मोद्गल्यायन के कर्म के अनरूप हैं। वे पाँच सौ नग्न सन्यासी और पाँच सौ लुटेरे भी मेरे निर्दोष शिष्य की हत्या करने के कारण इस उपयुक्त मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। जो निर्दोषों को हानि पहुँचाते हैं उन पर दस प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं।

पूर्व जन्मों के कर्मों से हम कर्म प्रवृति उत्तराधिकार में पाते हैं। दूसरे लोगों की तरह बुद्ध भी अपने माता–पिता के यहाँ उत्पन्न हुए। किन्तु उस वंश में सिद्धार्थ गौतम से पूर्व कोई भी शारीरिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक रूप से बुद्ध जैसा पैदा नहीं हुआ। बुद्धत्त्व प्राप्ति एवं अद्वितीय गुण उनके पूर्व जन्मों का फल थे। जो उन्होंने अनेक जन्मों तक बोधिसत्त्व के रूप में सतत् प्रयास एवं महान् विपश्यना (साधना) द्वारा प्राप्त किये थे। भगवान् बुद्ध में महापुरुषों के बत्तीस महापुरुष लक्षण उनके कर्म का ही फल थे। जिन कर्मों के परिणाम स्वरूप ये महापुरुष लक्षण अर्जित किये जा सकते हैं वे कर्म भी बत्तीस हैं। श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन में विहार करते समय भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए बत्तीस महापुरुष व उनके कर्म के परिणाम भी बत्तीस बतलाये गये हैं।[अपप]

इस प्रकार कोई भी व्यक्ति दृढ़ संकल्प से साथ यदि ऐसे कर्म करे तो वह भी भावी जीवन में महापुरुष के बत्तीस लक्षणों को प्राप्त कर सकता है। किन्तु इन्हें पाने के लिए एक अथवा दो जीवन पर्याप्त नहीं है। इसके लिए व्यक्ति को अनेक जन्मों तक सदाचरण, शीलों, दस पारमिताओं, विपश्यना, साधना, कुशल कर्मों के अभ्यास का पालन करने तथा चित्त (मन) के सभी विकारों को नष्ट करने का सतत् प्रयास

RRIJM 2015, All Rights Reserved

करना होगा। 'जातक कथाओं' में इसका विस्तृत विवरण मिलता है कि स्वयं बुद्ध को बोधिसत्त्व के रूप में अनेक जन्मों तक बुद्धत्त्व लाभ व महापुरुष लक्षणों की प्राप्ति के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ा। प्रश्न यह उठता है कि महापुरुष लक्षणों को प्राप्त करने के लिए अनेक जन्मों का प्रयास क्यों आवश्यक है? इसका उत्तर यही है कि जिस प्रकार एम.ए., पी.एच.डी., डॉक्टर, इन्जीनियर आदि की डिग्री प्राप्त करने के लिए अनेक वर्षों (16–18 वर्ष) तक लगन के साथ अध्ययन करना होता है। ठीक उसी प्रकार बुद्धत्त्व अथवा महापुरुष लक्षणों की स्थिति (उपाधि) प्राप्त करने के लिए अनेक जन्मों की साधना एवं प्रयास आवश्यक है। अतः हम अपने ही कर्मों के उत्तराधिकारी (दायाद) है।

कर्म का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है किन्तु यह अनेक परिस्थितियों में से एक है। बौद्ध धर्म के अनुसार **पाँच नियम** है जो शारीरिक तथा मानसिक परिमंडल क्षेत्र को परिचालित करते हैं। ये हैं **1. ऋतु नियम, 2. बीज नियम, 3. कर्म नियम, 4. धम्म नियम, 5. चित्त नियम।** 'कर्म' नियम इनमें से केवल एक नियम है। हमारी स्थिति का कारण अन्य नियम भी है। यह एक जटिल विषय है।

कर्मों के फल का प्रभाव तुरंत भी हो सकता है, कुछ समय बाद भी हो सकता है। 'त्रिपिटक' में अनेक उदाहरण है जब अनेक व्यक्तियों को कर्मों का फल भोगना पड़ा। अपने पिता बिम्बिसार की हत्या करने के फलस्वरूप अजातशत्रु का वध उसी के पुत्र ने कर दिया। मृत्यु के तुरंत बाद वह दुःखपूर्ण एवं दयनीय स्थिति में पैदा हुआ। त्रिरत्न में आस्थावान, धम्म में स्थापित, महादानी, शीलवान तथा करूणा की भावना से ओत–प्रोत अनाथ पिण्डिक अपने कुशल कर्मों के फलस्वरूप तुषितकाय में देवता सम उत्पन्न हुए थे।

कर्म से तात्पर्य केवल भूतकाल के कर्मों से नहीं है। इनमें दोनों भूत एवं वर्तमान काल के कर्म सम्मिलित है। भूतकाल में हम जैसे भी थे, उसी का परिणाम स्वरूप हम वर्तमान में है। इस समय हम जैसे हैं उसी के परिणाम स्वरूप भविष्य में होंगे। कर्म का कार्य बहुत जटिल है। उदाहरण के रूप में आज का अपराधी कल का श्रमण हो सकता है और बीते कल का सज्जन आज का दुष्ट व्यक्ति हो सकता है। 'अंगुत्तर निकाय' में भगवान् कहते हैं कि कर्म फल तो बदला जा सकता है क्योंकि व्यक्ति जो कार्य कर रहा है वह उसके कर्मों के अनुरूप है। ऐसे में व्यक्ति को अच्छे कर्म की प्रेरणा मिलेगी। वह सोचेगा कि यदि मैं आम का पौधा लगाऊँगा तो अन्त में मुझे आम ही मिलेंगे।[अपपप]

बौद्ध धर्म के अनुसार कर्मों एवं कर्म फल को बदल डालना पूरी तरह से सम्भव है। हम पाते हैं कि दरिद्र व्यक्ति भी अपने प्रयास से धनवान बन जाते हैं। अशिक्षित लोग प्रयास से उच्च शिक्षा शास्त्री बन जाते हैं। विकलांग व्यक्ति परिश्रम से संगीतकार, कलाकार, शिल्पकार, गायक, अध्यापक, विद्वान बन जाते हैं। दूषित समाज व्यवस्था के कारण नीच कुलीन समझे जाने वाले लोग प्रयास व लगन से न्यायाधीश, लेखक, पत्रकार, मंत्री, वैज्ञानिक, उद्योगपति आदि बनकर सम्मानित एवं पूजनीय हो जाते हैं। उदाहरण के लिए डाकू अंगूलीमाल बुद्ध की शरण में आकर त्रिरत्न की भावना से अर्हत् हो गया। आम्रपाली वैश्या ने अपने आचरण में परिवर्तन लाकर अर्हत् पद प्राप्त कर लिया। लाखों लोगों का वध करने वाला क्रूर अशोक धम्म की शरण में आकर विश्वविख्यात प्रियदर्शी अशोक हो गया।

इस प्रकार हम अपने भाग्य के स्वयं निर्माता हैं। हम स्वयं अपने सृजनकर्ता, विनाशकर्ता हैं। हम स्वयं अपने स्वर्ग का व नरक का निर्माण करते हैं। हम जो भी विचारते या बोलते हैं या करते हैं वही हमारा कर्म हो जाता है। जब कोई अनहोनी वश किसी बुरे समय का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में एक प्रज्ञावान बौद्ध यही समझता है कि वह वही काट रहा है जो उसने बोया था। पूर्व का ऋण चुका रहा है, दूसरी तरफ अपने को भाग्य के ऊपर छोड़ने के बजाय कारण रूपी जड़ों को उखाड़ फेंकने के लिए कठोर प्रयास करता है। नये शील आचरण का बीज बोता है तब भविष्य स्वयं उसके हाथ में होता है।

कार्य की क्रिया– मन से, वाणी से, काय से किये गये कार्य ही कर्म है। चाहे वे कुशल (अच्छे) अथवा अकुशल (बुरे) हों। अन्जाने में हो गये कार्य कर्म के अन्तर्गत नहीं आते। फिर भी उनका फल तो भोगना ही होता है। भले ही प्रभाव गौण हो।

सभी कर्मों का प्रधान चित्त (मन) ही है। चित्त ही हमारी वाणी तथा कार्य को स्वरूप (शक्ल) प्रदान करता है। जब चित्त असंयत हो जाता है, वाणी असंयत हो जाती है तो शारीरिक क्रिया असंयत हो जाती है तो हमारे विचार भी असंयत हो जाते हैं। जब हमारा चित्त संयत होता है, वाणी संयत होती है और शारीरिक क्रिया संयत होती है तो हमारे विचार भी संयत होते हैं।

कारण और प्रभाव का नियम ही कर्म सिद्धांत है। कर्म क्रिया है और विपाक (फल) अथवा परिणाम उसकी प्रतिक्रिया है। जैसे प्रत्येक प्राणी के साथ उसकी छाया रहती है वैसे ही प्राणी द्वारा किये गये कार्यों का परिणाम भी साथ–साथ रहता है। धरती में बोया गया बीज कर्म है और वृक्ष से प्राप्त फल उसका विपाक (परिणाम) है। कर्म अच्छा या बुरा जैसा भी होगा वैसा ही उसका विपाक (फल) भी अच्छा या बुरा होगा। प्राणियों को मिलने वाला सुख या दुःख का यही कारण है।

बुद्ध कहते हैं कि दोनों पाप तथा पुण्य स्वयं पर निर्भर करते हैं। कोई दूसरा किसी की शुद्धि नहीं कर सकता।

संचालन समय से संबंधित कर्म का वर्गीकरण इस प्रकार है।

1. तुरन्त प्रभावी कर्म
2. बाद में प्रभावी कर्म
3. अनिश्चितकाल में प्रभावी कर्म
4. अप्रभावी कर्म

कर्म का स्वभावः– कर्मों की क्रिया को प्रभावित जो करते हैं वो दो उदाहरण हैं– 1. अनुकूल समय अथवा अवसर, 2. प्रतिकूल समय अथवा अवसर

अकाल, महामारी तथा भूकम्प की स्थिति में विनाशकारी परिणाम को सभी को भोगना पड़ता है। ऐसे में प्रतिकूल परिस्थितियाँ अकुशल कर्मों के लिए सम्भावना पैदा करती है। इसी प्रकार दूसरी ओर अनुकूल परिस्थितियाँ अकुशल कर्मों की क्रिया को रोक देती है। ऐसा हो सकता है कि कुछ मामलों में एक छोटी सी बुराई अपना प्रभाव (परिणाम) उत्पन्न कर दे। जबकि एक बड़ी बुराई का परिणाम (प्रभाव) अल्पमात्र रह जाये।

बौद्ध धर्म का कर्म सिद्धांत मानव को आशावान बनाता है। एक बौद्ध स्वयं के प्रगति के लिए कर्मशील होता है। कुशल धर्म के फलस्वरूप, अनुकूल परिस्थिति में उत्पन्न वह मानवता पर करूणा, मैत्री

RRIJM 2015, All Rights Reserved

करते हुए और बंधुत्व व्यवहार द्वारा सभी के कल्याण एवं मंगल की कामना करता है।

कर्म को नियन्त्रित करें:– हमारा चित्त (मन) ही कर्म का संचालन कर्ता है। मन ही प्रधान है और हमारे कर्म की गति निर्धारण करने का केन्द्र बिन्दु है। मन की स्थिति के कारण ही हमारा कर्म कुशल अथवा अकुशल होता है। अतः कर्म को नियन्त्रित करने के लिए मन का नियन्त्रण आवश्यक है। कर्म मनोमय है। यदि कोई स्वच्छ मन से बोलता या करता है तो कभी न साथ छोड़ने वाली छाया कि तरह सुख उसका अनुगमन करती है, किन्तु चित को नियंत्रित कर पाना बहुत कठिन है। हमारा मन पंच इन्द्रियों के माध्यम से विषयों के साथ सम्पर्क में आने से (सुख, दुःख, असुख–अदुःख वेदना) इन तीन प्रकार की वेदना की अनुभूति करता है। यह वेदना ही राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, अहंकार आदि के रूप में हमारी प्रवृत्ति बनकर हमें बन्धन में बांध देती है। हमसे मनचाहे ढंग से काम करवाती है। हमारे कर्म को स्वरूप प्रदान करती है। अलोभ, अदोष, अमोह से कुशल कार्य प्रभावित होते हैं।

मन को संयत रखने के लिए शीलों का पालन आवश्यक है। शीलों का पालन कर्म को शुद्ध करता है। अतः मन को संयत करने से ही कर्म संयत होते हैं।

कर्म का विधान कहीं बाहर से आरोपित नहीं किया गया है बल्कि यह हमारी अपनी ही प्रकृति में कार्य करता है। मानसिक आदतों का निर्माण, बुराई की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति, आवृत्ति का दृढ़ होता जाने वाला प्रभाव– जो आत्मा की सशक्त स्वतन्त्रता की जड़ खोखली करता है, हम चाहे इसे जाने या न जानें– ये सब कर्म विधान के अन्तर्गत समझे जाते हैं। हम अपने कर्मों का फल भोगने के बच नहीं सकते। भूतकाल वास्तविक अर्थों में वर्तमान एवं भविष्य को जन्म देता है। यह कर्मविधान का ही सिद्धांत है जो मानवीय संबंधों में न्याय करता है। बौद्ध मत के अनुसार ''अपने कर्मों में भेद के कारण मनुष्य एक समान नहीं होते। परन्तु कुछ दीर्घायु कुछ अल्पायु, कुछ स्वस्थ और कुछ अस्वस्थ इत्यादि होते हैं'' इस व्याख्या के बिना मनुष्य अपने को घोर अन्याय का शिकार होते हुए अनुभव करेंगे। दुःख भोगने वाले को भी यह इस रूप में सहायता करता है कि वह अनुभव करता है कि दुःख भोगने से वह एक पुराना ऋण उतार रहा है और सुखी पुरुष को भी यह नम्र बनाता है क्योंकि वह फिर अच्छे कार्य करेगा। जिससे कि वह फिर सुख भोग के योग्य हो सके। जब एक पीड़ित शिष्य भगवान् बुद्ध के पास आया, जिसका सर फटा था और उससे रक्त बह रहा था। तब भगवान् बुद्ध ने कहा– ''हे अर्हत् उसे ऐसा ही सहन करो। तुम अपने उन कर्मों का फल सहन कर रहे हो जिनके लिए तुम्हें सदियों तक नरक का कष्ट सहन करना पड़ता।'' कर्मविधान वैयक्तिक उत्तरदायित्व पर एवं भविष्य जीवन की यथार्थता पर बल देता है। यह इस बात को मानता हैं कि पाप का फल पापी की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता है। यदि कोई दुर्बल मनवाला मनुष्य, जिसका नैतिक आचरण भी दुर्बल है, कोई बुरा काम करता है तो वह नरक में जाता है। यदि कोई सज्जन पुरुष कोई बुरा काम करता है तो वह इसी जीवन में थोड़ा सा दुःख पाकर ही बच सकता है। ''यह इस प्रकार है कि यदि कोई मनुष्य पानी के एक प्याले में नमक का एक ढेला डाल दे तो पानी नमकीन हो जाएगा और पीने के योग्य नहीं रहेगा। किन्तु यदि उसी नमक के ढेले को गंगा नदी में डाला जाए तो गंगा का पानी प्रत्यक्ष रूप से जरा भी दूषित नहीं होगा''।

कर्म का सिद्धांत बौद्ध धर्म में बहुत पुराना है, यद्यपि इसकी युक्तियुक्तता परिणिति के दर्शन में ही मिलती है। कारणों एवं कार्यों की एक लंबी श्रृंखला में मनुष्य केवल अस्थायी कड़ियों के समान है। वहाँ कोई भी कड़ी एक दूसरे से पृथक नहीं है। किसी भी व्यक्ति का इतिहास उसके जन्म से ही प्रारम्भ नहीं होता बल्कि युगों से बन रहा होता है।

सम्पूर्ण बौद्ध धर्म में कम्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानसिक व भौतिक जगत् के सारे तत्त्वों की नैतिक व्याख्या करने से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य अकेला नहीं है उसके साथ पूर्वजन्म के कुछ कर्म भी होते हैं। यह कार्य बहुत बार अनेकों तरीकों से सम्पादित होता रहता है। नैतिक व्याख्या से तात्पर्य कर्म के शुभ (कुशल), अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से अतिरिक्त एवं अव्याकृत विपाकों के रूप में व्याख्या करना है। चित्त और उसकी संयुक्त अवस्था (चेतसिक) का कुशल अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण करना वास्तव में नैतिक व्याख्या करना ही कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में, इसे बौद्ध नीतिवाद या मनोविज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। चित्त का अर्थ है चेतना, चेतना को बौद्ध दर्शन में बड़े व्यापक अर्थ में लिया गया है।

अतः कर्म के शुभ–अशुभ स्वरूपों का चेतना से घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस जीवन और जगत् में हमारा सामान्य जीवन प्रवाह चलता है, वह कामनाओं का लोक है, यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक हम कामनाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। एक कामना दूसरी कामना को जन्म देती है और अन्त में अंतृप्त कामनाओं के सम्बल को लेकर ही दूसरी जन्म में प्रवेश कर जाते हैं। सभी कर्म, नैतिक या अनैतिक, कुशल या अकुशल होते हैं। जब यह कर्म अलोभ, अद्वेष, अमोह के रास्ते से आता है, तो यह 'कुशल कम्म' कहलाता है। जब यही अनैतिक लोभ द्वेष, मोह के रास्ते से आता है यह 'अकुशल कम्म' कहलाता है। अतः सभी भौतिक और मानसिक अवस्थायें 'अनित्य', 'दुख' और 'अनात्म' है, सापेक्ष है, कार्य और कारण की श्रृंखला से बद्ध है, किन्तु निर्वाण असंस्कृत धातु है, वह कार्यकारण भाव से बद्ध नहीं है। वह सबसे ऊपर है, परमार्थ है, सत् असत् के ऊपर विशुद्ध हैं, किन्तु दुख निवृत्ति की साधना तो भव–प्रवाह में होती है, जो कार्यकारण भाव से संचालित है।

जब भी कोई कार्य प्रतिपादित होता है तो वह एक क्षण के लिए होता है और दूसरे क्षण वह लुप्त हो जाता है, परन्तु वह लुप्त होकर हमारे मस्तिष्क में एक छाप छोड़ जाता है। यही छाप कर्मों के फल के रूप में आगे चलकर उपस्थित होती है। कर्मों के परिणाम व फल आगे चलकर हमारे मस्तिष्क की सतह पर एक समरूप प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है, जिससे नैतिक कार्य शुभ परिणाम तथा अनैतिक कार्य अशुभ परिणाम को प्रस्तुत करते हैं। इन कर्मों के परिणामस्वरूप ही मनुष्य बार–बार भिन्न–भिन्न दशाओं में जन्म लेता है। **यही कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त है।** अतः पुनर्जन्म का मूल कारण जीवन में किये गये कर्म ही हैं। कर्म का मूल है, तृष्णा और तृष्णा एक ओर अविद्या पर आश्रित है, दूसरी ओर सुख के अनुभव पर।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

[1] जा. कथाएं
[ii] सं. नि., पा. (हि.), स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी : बौद्ध भारतीय प्रकाशन
[iii] अ. नि., प. (हि.), स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी : बौद्ध भारतीय प्रकाशन
[iv] म. नि. प. (हि.), स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी : बौद्ध भारतीय प्रकाशन
[v] ध., डॉ. के.टी.एस. सराव, मोतीलाल, बनारसीदास, नई दिल्ली
[vi] ध., डॉ. के.टी.एस. सराव, मोती लाल बनारसी दास, 2017 नई दिल्ली।
[vii] पु. प. (अमिधम्मपिटक)
[viii] अं. नि. पा. (हि.), द्वारकादास शास्त्री, बौद्ध भारतीय प्रकाशन, वारणसी

ग्रंथ सूची

मज्झिम निकाय पालि : Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute.

मज्झिम निकाय : बौद्ध भारतीय प्रकाशन, स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी। भिक्षु राहुल सांकृत्यान, नव नालन्दा महाविहार, पटना। प्रधान संशोधक, भिक्षु जगदीश कश्यप, नव नालन्दा प्रकाशन, 1958। Ed. V. Trenckner & R. Chalmers, 3 Vols. London : PTS, 1888-1896. Tr. I.B. Horner; the Collection of middle Length Sayings, 3 Vols, London : PTS, 1954-1959 (Reprints). Also tr. R. Chalmers, Furher Dialogues of th Buddha, 2 Vols, London. Also Tr. Bhikkhu Nanamoli and Bhikkhu Bodhi, the Middle lenth Discourse of Buddha, Bostan, Mass : Wisdom Publication 1995.

संयुक्त निकाय पालि : Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute.

संयुक्त निकाय : बौद्ध भारतीय प्रकाशन, स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी।

Ed. M.L. Feer, 5 Vols. London : PTS, 1884-1898. Tr. C.A.F. Rhys Davids and S.S. Thera, Vol. I; C.A.F. Rhys Davids & F.L. Woodward Vol. II; F.L. Woodward Vols. III, IV, V. *The Book of the Kindred Sayings;* London, PTS, 1950-56 (Reprints).

अंगुत्तर निकाय पालि : Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute.

अंगुत्तर निकाय : सं. व अनु. नव नालन्दा प्रकाशन, भिक्खु काश्यप जगदीश, नालन्दा 1958।

बौद्ध भारतीय प्रकाशन, स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी।

Ed. R. Morris & E. Hardy, 5 Vols. London : PTS, 1885-1900. The Translated references are from *The Book of the Gradual Sayings,* tr. F.L. Woodward: Vols. I, II & V; E.M. Hare: Vols. III & IV, London : PTS, 1955-1970 (Reprints).

जातक : Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute कौसल्यापन भदन्त आनन्द, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1995। 1995A Ed. V. Fausboll, 7 Vols. (7 Vol. Index by D. Anderson), Trubner & Co, London, 1877. The Jataka or the Stories of the Buddha's former Births, Cambridge University Press, Cambridge, 1895-1907

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भदन्त आनन्द कौत्साल्यान, प्रयाग 1995।

धम्मपद पालि : Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute.

धम्मपद : मोतीलाल बनारसी दास, अनु. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, 1977। अनु. भदन्त आनंद कौसाल्यायन, बुद्धभूमी प्रकाशन, नागपुर, प्र.सं. 1940। सराव के.टी.एस., मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली।

मिलिन्दपञ्हो : सम्पादक, भिक्षु जगदीश काश्यप, हिन्दी अनुवाद सहित, सारनाथ, वाराणासी, 1937

उपाध्याय डॉ. भरत सिंह : पालि साहित्य का इतिहास, प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्र.सं. 1994। बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग 1।

सांस्कृत्यान राहुल : बौद्ध दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद।

पाण्डेय डॉ. गोविन्द चन्द्र : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ द्वि. सं 1976

देव अचार्य नरेन्द्र : बौद्ध धर्म दर्शन, वारणासी, प्र.सं. 1967।

RRIJM 2015, All Rights Reserved